❑ डॉ० शिवनाथ पाण्डेय

बदलते परिवेश में शिक्षा और शिक्षक

मनुष्य का चरित्र-निर्माण करनेवाली शिक्षा का आज प्रमुख उद्देश्य है, अर्थोपार्जन। वर्तमान अर्थ-प्रधान-परिवेश में इसे बिल्कुल गलत भी नहीं कहा जा सकता। किंतु यदि अर्थोपार्जन ही शिक्षा का एकमात्र उद्देश्य हो जाय तो निश्चित रूप से यह एक चिंता का विषय बन जाता है। कदाचित् यही वजह है कि राष्ट्र-निर्माता माने जाने वाले शिक्षक समाज के प्रति भी 'आचार संहिता' की बात आज चर्चा का विषय बन गयी है। कहना न होगा कि भारतीय समाज में कभी ब्रह्मा, विष्णु और महेश की कतार में स्थान पाने वाले गुरुओं के प्रति आज प्रशासनिक अनुशासन की बात एक युगांतकारी बदलाव है, जिसके प्रति मात्र संकेत करना ही यहाँ हमारी सीमा है।

ईश्वर से भी गुरु को श्रेष्ठ माननेवाले कबीर ने कभी कहा था कि–

'गुरु तो ऐसा चाहिए सिक्ख सो कछु न लेय ।
सिक्ख तो ऐसा चाहिए गुरु को सरबस देय ।।'

यह पूज्य-भाव आज सिर्फ वायवीय आदर्श बनकर रह गया है। यथार्थ इसके बहुत कुछ विपरीत है। वर्तमान जीवन-संदर्भों से जुड़कर यही स्वाभाविक भी है क्योंकि आज का शिक्षक प्राचीन गुरुओं की भाँति जंगल में झोंपड़ी बनाकर फल-फूल पर जीवन व्यतीत करनेवाला त्यागी महापुरुष नहीं, बल्कि आधुनिक ग्राम या नगर में निवास करने वाला एक सुविधापरस्त आम आदमी है। यदि यथार्थ से जुड़कर आधुनिक सामाजिक संबंधों का मूल्यांकन करें तो यह कहना गलत नहीं होगा कि आज समाज में वही व्यक्ति सम्मान का अधिकारी है, जो भौतिक सुख-सुविधा के साधनों से संपन्न है। इस आधार पर समाज में अपने को प्रतिष्ठित करने की दौड़ में यदि आज का शिक्षक भी शामिल है, तो व्यावहारिक दृष्टि से उसे गलत नहीं कहा जा सकता क्योंकि आज समाज का शायद ही कोई ऐसा वर्ग है, जो इस भावना से वंचित है। किंतु साथ ही इस तथ्य से इंकार भी नहीं किया जा सकता कि इस दिशा में हमारी एक मर्यादित सीमा होनी चाहिए। युग-युग से सम्मानित शिक्षक-समुदाय की मर्यादा को अर्थ-संग्रह की अंध-दौड़ ने आज किन कारणों से इस स्थिति में पहुँचा दिया, यह एक विचारणीय विषय है, जिसे सामयिक संदर्भों से जोड़कर ही देखना उचित है।

भारतीय समाज व्यवस्था के नींव-निर्माण में दो क्षेत्रों को व्यावसायिकता से बिल्कुल दूर सेवा-पक्ष के अंतर्गत रखा गया– एक शिक्षा एवं दूसरी चिकित्सा। किंतु बाजारवाद के दबाव में आज व्यवसाय-जगत का सबसे फायदेमंद एवं सहज साधन है, इन क्षेत्रों से जुड़े क्रमशः प्राइवेट स्कूल एवं नर्सिंग होम खोलना। प्रायः हर क्षेत्र में आज निजीकरण की प्रक्रिया भी इसी दबाव का प्रतिफलन है। भविष्य में सरकारी विद्यालयों का भी उद्योगपतियों की संपत्ति के रूप में बदल जाना बिल्कुल असंभव नहीं कहा जा सकता। सरकारी शिक्षण-संस्थानों में भी ठीका के आधार पर नियुक्तियों का मन बना चुकी सरकारों की नियत आज साफ हो चुकी है। इस क्रम में शिक्षा के राजनीतिकरण ने और भी कई समस्याएँ पैदा की हैं। आज शिक्षकों के लिए विकास का माध्यम पढ़ने-पढ़ाने से अधिक राजनीति प्रेरित शिक्षक-संघों की गतिविधियों में हिस्सेदारी है। ऐसे परिवेश में शिक्षक-शिक्षार्थियों का आदर्श की कसौटी पर मूल्यांकन के क्या परिणाम होंगे, यह स्वतः स्पष्ट है।

सिद्धांत और व्यवहार के टकराव में सिद्धांत की हार वर्तमान सामाजिक परिवेश का स्वाभाविक सत्य है। इस सत्य से जुड़कर ही आरंभिक शिक्षा में मातृभाषा के महत्व को मानते हुए भी आज बहुत कम ऐसे समर्थवान व्यक्ति हैं, जो मातृभाषा-माध्यम के विद्यालयों में शौक से अपने बच्चों का नामांकन कराना चाहते हैं। भारतीय शिक्षा-संस्कृति में अंग्रेजी एवं अंग्रेजियत का बीज-वपन करनेवाले मैकाले की शिक्षा-नीति की भर्त्सना करते हुए भी हम उसे अपनाने से परहेज नहीं कर पाते। राष्ट्रीयता की भावना से प्रेरित होकर खोले गये हिंदी-माध्यम विद्यालयों को भी अंग्रेजी-माध्यम में बदलने से रोक नहीं पाते। कोलकाता में आज भी कई ऐसे विद्यालय हैं, जो अपने नाम के बिल्कुल विपरीत अंग्रेजी एवं अंग्रेजियत के प्रचार-प्रसार में संलग्न हैं। स्पष्टतः इसकी वजह से

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आज हिंदी की अपेक्षा अंग्रेजी का अधिक रोजगारोन्मुख होना है। जैन धर्म के अणुव्रत-अनुशास्ता, युग प्रधान आचार्य तुलसी के अनुसार, ''शिक्षक यदि शिक्षा को जीविका का साधन मात्र मानता है तो वह विद्यार्थी को पुस्तक पढ़ा सकेगा, पर जीवन-निर्माण की कला नहीं सिखा सकेगा। इसी प्रकार विद्यार्थी यदि जीविकोपार्जन के उद्देश्य से पढ़ता है तो वह डिग्रियाँ भले ही उपलब्ध कर लेगा, किंतु ज्ञान के शिखर पर नहीं चढ़ सकेगा।'' किंतु आज शिक्षा का यह आदर्श सिर्फ कहने भर को रह गया है। वास्तविकता यह है कि 'जैन धर्म' की भावना से प्रेरित होकर खोले गये 'जैन विद्यालय' भी शिक्षा-माध्यम के रूप में अंग्रेजी को अपनाकर जीविकोपार्जन का ही मार्ग प्रशस्त करते हैं। वर्तमान सामाजिक परिवेश में यही युग धर्म है, जो युग-प्रधान आचार्य की कथनी और उनके अनुयायियों की करनी में भिन्नता लाने को बाध्य करता है।

जगत-गुरु के रूप में विश्व-विख्यात भारत की शिक्षा-संस्कृति में व्यावसायिकता का बीज-वपन कब और किन परिस्थितियों में हुआ, यह कहना तो सहज संभव नहीं, परन्तु प्राचीन भारत में भी यह भावना थी जिसके संकेत मिल जाते हैं। महाकवि कालिदास ने 'मालविकाग्निमित्र' में लिखा है कि 'यस्यागम: केवलं जीविकायै तं ज्ञानपण्यं वणिजं वदन्ति।' अर्थात् जिसका शास्त्रज्ञान केवल जीविका निर्वाह के लिए है, वह तो ज्ञान बेचने वाला वणिक् है। कहना न होगा कि आज प्राय: हर क्षेत्र में यह व्यावसायिकता ही हमारी आधुनिक अर्थ-व्यवस्था की देन है। 'शिक्षा-विभाग' का 'मानव संसाधन विकास मंत्रालय' के रूप में परिवर्तन कदाचित् इसी अर्थ-व्यवस्था का परिणाम है। क्योंकि आधुनिक शिक्षा को चरित्रनिर्माणोन्मुख बनाने के बजाय रोजगारोन्मुख बनाना ही वर्तमान समय की माँग है। इस माँग के दबाव में हमारी सामाजिक संस्कृति के अंतस में निहित नैतिक मूल्य आज नष्ट-भ्रष्ट होते जा रहे हैं, जिसकी ओर संकेत करते हुए प्रसिद्ध अर्थशास्त्री कीन्ज का कहना है कि ''अभी तो आनेवाले कम से कम सौ वर्षों तक हमें अपने आपको और प्रत्येक व्यक्ति को इस भुलावे में रखना होगा कि जो उचित है, वह गलत है और जो गलत है वह उचित है, क्योंकि जो गलत है वह उपयोगी है, जो उचित है वह नहीं। अभी हमें कुछ अर्से तक लालच, सूदखोरी और एहतियात की पूजा करनी होगी, क्योंकि इन्हीं की सहायता से हम आर्थिक आवश्यकताओं के अंधेरे रास्ते से निकलकर रोशनी में कदम रख सकेंगे।'' यही है आज का व्यावहारिक सत्योद्घाटन। अज्ञान के अंधकार से ज्ञान के प्रकाश की ओर गमन करने का मंत्र 'तमसो मा ज्योतिर्गमय' का आज कोई 'कीन्ज' द्वारा सांकेतिक उपर्युक्त अर्थ भी निकाले तो आश्चर्य नहीं। क्योंकि गुरुकुल से आरंभ होकर आज इंटरनेट तक पहुँची शिक्षा-संस्कृति की मुख्य दिशा नैतिकता की चोटी से चलकर भौतिकता की खाई में ही खोते जाना है। ऐसे बदलते परिवेश में शिक्षक अपने व्यावहारिक जीवन में कौन-सा रास्ता अख्तियार करेंगे, यह स्पष्ट करने की आवश्यकता नहीं है। आज ट्यूशन के औचित्य-अनौचित्य की चर्चा इसी का परिणाम है।

वर्तमान युग-धर्म, 'अर्थ-संग्रह' की दृष्टि से अतिरिक्त समय में ट्यूशन के औचित्य को समझा जा सकता है, पर मूल कर्तव्यबोध को नजरअंदाज कर सिर्फ ट्यूशन ही शिक्षक का लक्ष्य बन जाय तो यह शिक्षा-संस्कृति के विघटन की पराकाष्ठा है। इससे साथ बैठकर पढ़नेवाले प्रतिभावान गरीब छात्रों को मानसिक आघात भी पहुँचता है। क्योंकि असली परीक्षापयोगी शिक्षा तो उन्हीं शिक्षकों द्वारा कक्षा से बाहर दी जाती है, जो अर्थ-संपन्न छात्रों को ही नसीब हो पाती है। फलत: स्कूल स्तर पर कृष्ण-सुदामा का अलगावबोध कक्षा स्तर पर भी विद्यमान रहता है। ऐसे शैक्षणिक परिवेश से निकले बच्चों से किस प्रकार का समाज बनेगा, यह एक विचारणीय विषय है। अर्थ-संपन्न अभिजात वर्ग के मूर्ख-गंवार बच्चे भी चाँदी की सीढ़ी पर चढ़कर आधुनिक विज्ञान-टेक्नोलॉजी की ऊँचाई पर पहुँच जाते हैं। तथाकथित पिछड़ी जातियों के गरीब बच्चों को भी आरक्षण का एक सहारा मिल जाता है, पर कुलीन कहकर छाँट दिये जानेवाले प्रतिभावान गरीब बच्चों का भविष्य सोचनीय बन जाता है। कभी-कभी तो वे अपने मूर्ख-गंवार सहपाठियों के ही दरबान-चपरासी बनने तक को अभिशप्त होते हैं। यही है अर्थ-प्रधान समाज में निरंतर विघटित होती शिक्षा-संस्कृति के परिणाम, जो किसी भी समाज प्रेमी या व्यवस्था के लिए चिंता का विषय बन सकता है। किंतु इस चिंता का समाधान सिर्फ शिक्षकों के लिए 'आचार-संहिता' या कानून बनाकर संभव नहीं है। ऐसा सोचना समाधान के लिए सरलीकरण का रास्ता अख्तियार करना है। वास्तविकता यह है कि नैतिक बोध की गिरावट आज समाज के हर क्षेत्र में आई है, जिसका विश्लेषणपरक अनुशीलन किये बिना सिर्फ सतही सुधार की बातें अदूरदर्शिता की पहचान बन कर रह जाएगी।

अंग्रेजी एवं अंग्रेजियत के प्रभाव से क्रमश: विनष्ट हो रही भारतीय शिक्षा-संस्कृति के प्रति चिंता व्यक्त करते हुए कभी स्वामी विवेकानंद ने कहा था; ''यदि देश के बच्चों की शिक्षा का भार फिर से त्यागी व्यक्तियों के कंधों पर नहीं आता तो भारत को दूसरों की पादुकाओं को सदा-सदा के लिए अपने सिर पर ढ़ोते रहना होगा।'' बेशक आधुनिक शिक्षा अपने चरम विकास पर पहुँचकर भी त्याग के अभाव में सामाजिक रागात्मक संबंधों को छिन्न-भिन्न करती जा रही है, पर सवाल है कि आज स्वार्थोन्मुखी शिक्षा को सामयिक यथार्थ से सामना करते हुए

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

त्याग-तपस्या पर आधारित विलुप्त होते पारंपरिक जीवन-मूल्यों से किस प्रकार जोड़ा जाय। आधुनिक अर्थ-प्रधान परिवेश में यह एक कठिन चुनौती है, जिसका समाधान सिर्फ सतही स्तर पर सोचने या कानून बनाने से संभव प्रतीत नहीं होता। आज आवश्यकता है शिक्षा की जड़ से जुड़े उन कारणों पर विचार करने की, जिनके चलते चाहकर भी हम अपने को सुधार नहीं पाते। इस दिशा में प्रशासन द्वारा समय-समय पर गठित आयोगों के प्रतिवेदन भी ध्यातव्य हैं।

आजादी के बाद गठित राधाकृष्णन आयोग (१९४९) के प्रतिवेदन में इस बात पर जोर दिया गया है कि शिक्षा का उद्देश्य सत्य के वैज्ञानिक सत्यापन के साथ-साथ विघटित होते जीवन-मूल्यों पर भी केन्द्रित होना चाहिए। प्रतिवेदन प्रस्तुत करते हुए डॉ० राधाकृष्णन ने कहा था, ''मैं उस दिन की कल्पना करता हूँ जब भारत के विश्वविद्यालय राष्ट्र का बौद्धिक-सांस्कृतिक नेतृत्व करेंगे। नया परिवेश बनाने में उनकी भूमिका निर्णायक होगी।'' कोठारी आयोग (१९६४-६६) ने भी बौद्धिक-पक्ष के समानांतर नैतिक पक्ष पर भी ध्यान केन्द्रित करने की सिफारिश की है। इसी प्रकार सन् १९८६ में 'शिक्षा की राष्ट्रीय नीति' के अंतर्गत तो इस तथ्य पर चिंता व्यक्त की गई है कि आज सारे विकास के बावजूद महत्वपूर्ण व आवश्यक मूल्यों का ह्रास होता जा रहा है। कहना न होगा कि समग्रता में इस सोच की दिशा मैकाले की शिक्षा-नीति से टकराते हुए एक ऐसे नीति-निर्धारण की ओर है, जो आनेवाली पीढ़ी को ज्ञानवान के साथ-साथ चरित्रवान बनाने में भी सहायक हो, अन्यथा वह दिन दूर नहीं जब बाजारवाद के दबाव में बड़ी-बड़ी कंपनियों या उद्योगपतियों द्वारा ही शिक्षा-संस्थान संचालित होंगे और उनके मुनीम या उच्च पदस्थ कर्मचारी ही यह तय करेंगे कि किन-किन विषयों की पढ़ाई हो तथा कैसे छात्रों एवं शिक्षकों की भर्ती कर लेन-देन की रकम तय की जाय। कारण कि संपूर्ण शैक्षणिक प्रक्रिया का अनुशीलन हानि-लाभ के चश्मे से होगा। आखिर बिना लाभ देखे कोई क्यों अपना पूँजी-निवेश करेगा ? अत: ऐसे परिवेश में ऐसी शिक्षा का विकास संभव है, जो आज कंप्यूटर एवं इंटरनेट से संचालित कंपनियों के योग्य अधिकारियों एवं कर्मचारियों का निर्माण करे। अपने समय की ऐसी ही माँग को स्वीकार कर तत्कालीन शिक्षा-नीति में परिवर्तन के प्रयासों का उल्लेख करते हुए कभी अंग्रेज प्रशासक 'मैकाले' ने कहा था, ''इस समय तो हमारा सर्वोच्च कर्तव्य एक ऐसा वर्ग तैयार करना है, जो हमारे तथा हमारे द्वारा शासित करोड़ों भारतवासियों के बीच संपर्क-सूत्र का काम करे। यह एक ऐसे लोगों का वर्ग होगा, जो केवल रक्त एवं वर्ण से भारतीय दीखेंगे, पर रुचि, भाषा तथा आचार-विचार आदि की दृष्टि में अंग्रेज होंगे।'' कहना न होगा कि गुलाम भारत में राजनीतिक गुलामी को और दृढ़ करने के उद्देश्य से घोषित इस शिक्षा-नीति के ही निकट आज की भी शिक्षा-प्रणाली दीख रही है, जिसका मुख्य लक्ष्य ज्ञान-प्राप्ति और चरित्र-निर्माण की जगह धन कमाना और नौकरशाही को बढ़ावा देना है।

शिक्षा अपने गूढ़ अर्थों में दीक्षा भी है। भारतीय शिक्षा-संस्कृति के तहत कभी शिक्षा के समानांतर दीक्षा देने की भी एक स्वस्थ परंपरा थी, जिसका आज प्राय: लोप-सा हो गया है। भौतिक गुणों के विकास में आज नैतिक-बोध की बातें करना मूर्खता का पर्याय-सा है। क्योंकि आर्थिक लाभ-हानि पर आधारित वर्तमान समाज में जिस काम से लाभ होता है, वही प्रासंगिक है अन्यथा शेष सब बकवास है। वर्तमान शिक्षा की प्रासंगिकता की भी यही कसौटी है। एक हिंदी साहित्यकार नंदकिशोर आचार्य के अनुसार ''अब नैतिक-अनैतिक के बोध को भी बाजार की संप्रभुता के अंतर्गत आना पड़ रहा है और शायद यही कारण है कि आज हम नैतिक अनैतिक से अधिक चिंता कानूनी और गैर कानूनी की करने लगे हैं—और गैर कानूनी भी अंतत: वह है जिसे हम येन-केन-प्रकारेण कानून के दायरे में साबित न कर सकें।'' बेशक इस दृष्टि से शिक्षा का व्यापारीकरण एक गैर कानूनी कार्य है, जो वर्तमान समाज की नियत बन चुका है। अत: स्थायी समाधान इस नियत को बदलने की प्रक्रिया से जोड़ते हुए ढूँढ़ना ही अपेक्षाकृत अधिक सार्थक होगा। कहना न होगा कि इस दिशा में सबसे महत्वपूर्ण भूमिका शिक्षकों की ही है, जो भावी समाज के निर्माता विद्यार्थियों को किताबी शिक्षा के साथ-साथ नैतिक आचरण की दीक्षा भी दे सकते हैं। यह दूसरी बात है कि बिना अपने को सुधारे दूसरों को सुधारना सहज संभव नहीं होता; पर बहुत हद तक सामयिक परिस्थितियों को देखते हुए पाठ्यक्रम एवं पठन-पाठन की शैली में परिवर्तन इस दिशा में एक सार्थक प्रयास साबित हो सकता है। क्योंकि शिक्षा का मतलब सिर्फ मस्तिष्क का विकास नहीं, व्यक्तित्व का संपूर्ण विकास है। यह तथ्य सिर्फ भारत जैसे विकासशील देशों के लिए ही नहीं बल्कि तथाकथित विकसित समझे जाने वाले उन तमाम देशों के लिए भी उतना ही आवश्यक है, जो सिर्फ भौतिक साधन-संपन्न होकर भी नैतिक स्तर पर अस्तित्वहीन होते जा रहे हैं। यही वजह है कि 'इमाइल दुर्खीम' जैसे प्रसिद्ध फ्रांसीसी समाजशास्त्री का भी मानना है, ''शिक्षा का मुख्य उद्देश्य नैतिक आचरण का विकास करना है, जिसके बिना कोई भी समाज अस्तित्व में नहीं रह सकता है।'' अत: निष्कर्ष के तौर पर आज बदलते शैक्षणिक परिवेश में भी ज्ञान-विज्ञान के विकास के साथ नैतिक मूल्यबोध शिक्षा एवं शिक्षक दोनों के लिए अपरिहार्य है।

१, वाटकिन्स लेन, हावड़ा-१

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org